

स्कूल में हस्तशिल्प

कृष्ण कुमार

लेखक परिचय :

जाने-माने शिक्षाविद, वर्तमान में एनसीईआरटी के निदेशक।

पुस्तक :

राज समाज और शिक्षा, शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व, सोशल करेक्टर ऑफ लर्निंग, बच्चे की भाषा और अध्यापक, गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, मेरा देश तुम्हारा देश

सम्पर्क :

निदेशक
एनसीईआरटी, श्री अरविन्दो मार्ग
नई दिल्ली - 110016

हमारी स्कूली शिक्षा व्यवस्था में हस्तशिल्प के प्रति उपेक्षा सर्वविदित है। हस्तशिल्प के लिए शाला में समय नहीं दिए जाने या भर्ती के तौर पर अंतिम कालांश में लगाए जाने ने इसे 'निरर्थक' विषय की श्रेणी में डाल दिया है। इसका नतीजा शारीरिक और मानसिक श्रम की खाई और शारीरिक श्रम को दायम दर्जा दिए जाने के रूप में सामने आया है।

यह लेख बताता है कि यदि स्कूलों में हस्तशिल्प को समुचित स्थान दिया जाए तो यह बच्चों में आत्मविश्वास के साथ ही स्वयं निर्णय लेने की क्षमता, स्वानुशासन और सौन्दर्य बोध विकसित करने का माध्यम हो सकता है।

भारतीय ग्रामीण शाला का जाना-पहचाना सा रूप एक पहली पेश करता है। ऐसी उदास-सी जगह भला सीखने-सिखाने के लिए उस समाज में कैसे मुहैया करवाई जा सकती है जिसमें रोजमर्रा उपयोग में इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं में इस कदर विविधता व सौंदर्य की निरंतरता बनाए रखी जा सकी हो ? जब भी मैं सम्पन्न शहरी स्कूलों की निचली या उच्च केजी (शिशु कक्षाओं) में जाता हूँ, उन्हें फूहड़ प्लास्टिक की सामग्री से टुंसा देखता हूँ, तो मुझे समझ ही नहीं आता कि हमारे शिक्षा उद्यमियों के प्रति मेरी प्रतिक्रिया कैसी हो, जो सरकारी अधिकारियों से बेहतर होने का दावा करते हैं, पर उन संसाधनों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं जो भारतीय हस्तशिल्प की विरासत से प्रारंभिक बाल्यावस्था कार्यक्रम चलाने के लिए लिया जा सकता है। जब मैं (दिल्ली के) कॉटेज एम्पोरियम में जाता हूँ तो उनके खिलौना भाग का आकार मुझे हमेशा चौंकाता है। मैं सोचता हूँ कि हमें कितनी कमलादेवी चट्टोपाध्याय, पुपुल जयकर तथा लैला तैय्यबजी और कितने उरमूल¹, सेवा² व संधि³ की आवश्यकता होगी कि जिसके बाद हमारी शिक्षा व्यवस्था हस्त कलाओं की ओर पसीजेगा।

राजस्थान से आई ताजातरीन पाठ्यपुस्तकों के मुखपृष्ठ देख - उनकी विषयवस्तु हताशा का अलग ही मामला है - मुझे अचम्भा है एक राज्य जिसका रंगों व डिजाइन का ऐसा विलक्षण बोध हो वह ऐसे उजाड़ मुखपृष्ठ भला कैसे बना सकता है, अजमेर स्थित राज्य शिक्षा बोर्ड तिलोनिया (तिलोनिया स्थित सामाजिक कार्य एवं अनुसंधान केन्द्र) के साथ उन पुस्तकों के मुखपृष्ठों को राजस्थान के लाखों-लाख बच्चों के लिए क्यों नहीं डिजाइन कर सका ? पर मुझे मालूम होना चाहिए, हस्तशिल्प और स्कूलों के बीच शिल्पकारों व शिक्षकों के बीच, भारत के बच्चों और उनकी राष्ट्रीय धरोहर के बीच सेतु ही नहीं हैं।

यह विचार कि हस्तकलाओं को स्कूली पाठ्यचर्या में जोड़ना चाहिए न तो नया है न अपने आप में विवादास्पद, फिर भी इसे लागू करना आज भी उतना ही कठिन लगता है जितना वह 1937 तथा 1967 में सिद्ध हुआ था। महात्मा गांधी की पुरजोर पैरवी पाने के बाद यह विचार काफी विरोध के बावजूद आगे सरका, जो अंशतः

गांधी की राजनीति और उनके व्यक्तित्व के कारण तो था ही पर मुख्यतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की वजह से था जिसमें स्वतंत्रता संग्राम युद्ध के वर्षों में खुद को पा रहा था। नए विचारों के प्रति दोषदर्शिता (सिनिजिज्म) और विभ्रम तथा उनके गलत निहितार्थ निकालने की छूट उस समय भी उतनी ही आम थी जितनी आज है। मुल्कराज आनंद जैसे प्रगतिशील लेखक व विचारक ने भी तब गांधी के प्रस्ताव का विरोध किया था, इस आधार पर कि इससे बालश्रम को वैधता और प्रोत्साहन मिलेगा। कांग्रेस - लीग के बीच की खाई भी शिक्षार्थियों की मातृभाषा में समग्र हस्तकौशल आधारित शिक्षा के विरोध में एक मुख्य घटक बना।⁴

इन समस्याओं के बावजूद, यह विचार लागू भी हुआ और आजादी के बाद भारत के कई भागों में काफी लोकप्रिय भी हुआ। इसने एक ऐसी पीढ़ी को पैदा किया जिसे स्थाई औपनिवेशिक शिक्षा से कुछ भिन्न मिला हो। उस कुछ को अगर एक शब्द में बांधना हो तो वह शब्द होगा 'उपायकुशलता'। अपने हाथों से कुछ बनाने की इच्छा और यह विश्वास कि व्यक्ति तमाम किस्म की चीजें बल्कि कुछ भी बना सकता है, जैसा बचपन में सही ही व्यक्ति मानता है, कम से कम तब तक जब तक दुनिया की पुनर्रचना की इच्छा पर अंकुश न लगा दिया जाए। यही वह बात थी जो गांधी की 'नई तालीम' ने उन लोगों को सिखाई जो बुनियादी स्कूलों में पढ़े।

अपनी सफलता के बावजूद और उन तमाम कारणों के चलते, जिनका अब बाकायदा आलेखन हो चुका है; कोठारी आयोग (1964-66) के बाद बुनियादी शिक्षा को सुला दिया गया। मुझे निश्चित पता है कि ऐसा करना कोई जाहिर मंशा से नहीं किया गया था। भारत तब तक विकास के एक नए चरण में प्रवेश कर चुका था, और 1960 के दशक के अंत तक बच्चों के लिए हस्तशिल्प आधारित तत्कालीन माहौल में अनावश्यक-सी लगने लगी एक आदर्शवादी सनक सी। तमाम अन्य गांधीवादी विचारों का स्वरूप भी ठीक ऐसा ही रहा।

आज स्कूलों में हस्तशिल्पों को जोड़ने के विचार को लागू करना मुश्किल लगने का एक मुख्य कारण यह आम धारणा है कि यह विचार पहले असफल रह चुका है। यह धारणा कि कुछ विचार 'सफल' या 'असफल' रहते हैं हर स्तर के निर्णयकर्ताओं के जेहन में गहराई से पैठा हुआ है। कौन है जो किसी असफल विचार को दूसरी बार आजमाना चाहेगा जबकि आई.टी. उद्योग, शिक्षाविद बने इंजीनियरों, मैनेजमेंट गुरुओं और बहुपक्षीय एजेन्सियां लगातार चमचमाते नए विचार पेश कर रहे हों, जो तीसरी दुनिया के उपभोग के लिए शर्तें व कार्यक्रम ईजाद कर परोस रहे हों ? भारत की विरासत से जुड़े शिल्प, परोसे जा रहे 'विकसित' की छवि से मेल

नहीं खाते। मेल खा भी कैसे सकते हैं! प्लास्टिक हमारे जीवन को एक विशाल कम्बल की तरह ढके जा रहा है, ऐसे में हमें यह याद भी नहीं रहा है कि ऐन्द्रिक अनुभव की विविधता का अर्थ क्या है, तो संस्कृति और जीवन शैलियों की विविधता की बात तो बहुत दूर की है। विकसित देश बनने का सपना कुछ ऐसा बनता जा रहा है मानो अट्टाईस महकों वाली आईसक्रीम का उत्पादन किया जा रहा हो जिनका स्वाद एक सा हो।

दूसरी ओर, हस्तशिल्प शायद भारत की सांस्कृतिक विविधता का सबसे सटीक प्रतिनिधित्व करते हैं। वे कार्य व मूल्यों के एकीकरण को एक ऐसे संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक इन्सान में कलाकार के अस्तित्व को स्वीकारता हो। आजकल कुछ खास हस्तशिल्पकारों को 'दक्ष शिल्पकार' (मास्टर क्राफ्ट्समैन) के रूप में चिन्हित व सम्मानित करने का चलन है। यह श्रेणी हमारे स्पर्धात्मक मिजाज को सही व संतोषप्रद लगती है। निर्यात करने लायक वस्तुएं बनाने वाले शिल्पकारों व अन्य साधारण शिल्पकारों में अन्तर रेखांकित कर हम उन्हें निःशुल्क रेल-पास आदि सुविधाएं देते समय, हमें याद रखना चाहिए कि परंपरागत रूप से वह ग्राम समुदाय का साधारण सदस्य माना जाता था। इतना ही नहीं किसी शिल्प को अपना साधारण जीवन का एक पक्ष था एक हस्तशिल्प का नमूना रोजमर्रा के जीवन में उपयोग के लिए हुआ करता था।

शिल्प उत्पाद जीवन के सभी पक्षों से संबंधित होते थे और उन्हें एक विनीत सौंदर्य व कोमल प्रकाश से भरा करते थे। फर्श बुहारने के लिए झाड़ू, सोने के लिए एक चटाई या चारपाई, सिराहने के रूप में तकिया, पानी रखने का मटका, खेलने की गुड़िया या मिट्टी का योड़ा, सर्द हवा से बचाव के लिए दुशाला-ये सभी उपयोग के लिए ही बनाए जाते थे पर साथ ही हमारे जीवन की दैनिक यात्रा को सौंदर्यबोध का सतत मजबूती भी प्रदान करते थे, मानो संस्कृति को सींचते रखने की बूंद-बूंद सिंचाई (ड्रिप इरिगेशन) का कोई संयंत्र हो।

जीवन के रोजमर्रा की इस रूटीन गहराई के स्तर पर हस्तशिल्प भारत के विशाल व अचम्भित करने वाले वैविध्य का संकेत हैं। यह भी एक विडंबना ही है कि मैं इस समझ के इस निष्कर्ष पर तब पहुंचा जब मैं पाकिस्तान के एक म्यूजियम में जा रहा था। चूंकि हमारे यहां उस स्तर का कुछ है नहीं, उसके बारे में चंद पक्तियां जरूरी होंगी, मैं लोक-विरसा की बात कर रहा हूं जो इस्लामाबाद के बाहर स्थित है। पाकिस्तान की लोक परंपरा विभाग की यह ज्योर्तिमय रचना देश के आंतरिक चेहरे को प्रस्तुत करती है, चेहरा जिसकी दीप्ति व विविधता सामूहिक राष्ट्रीय जीवन की तमाम दुर्घटनाओं के बावजूद टिकी रह सकी है।

लोक-विरसा आधुनिक अजायबघरों के उम्दा प्रयास व उपकरणों के वैभव का सहारा ले पाकिस्तान के अनेक शिल्पों को प्रस्तुत करता है। कोई शिल्प, जिस भौतिक-भौगोलिक स्थिति के बीच में पनपे रिश्ते, सामुदायिक जीवन में उसका स्थान और स्थानीय संस्कृति, मान्यताओं तथा जेण्डर-सम्बन्धों को गढ़ने में उसकी भूमिका को यह अजायबघर गहराई से संप्रेषित करता। लोक विरसा जाहिरा तौर पर एक ऐसी सभ्यता बनाने में औरतों के योगदान का उत्सव मनाता है जिसकी जड़ें दक्षिण एशियाई पर्यटक के रूप में मुझे लोक विरसा ने याद दिलाया कि हस्तशिल्प इस समूचे इलाके में आत्म विश्वास, खुशहाली और शांति बहाल करने के लिए दरअसल क्या-क्या कर सकते हैं।

शिक्षा और हस्तशिल्पों को फिर से जोड़ना अच्छा विचार होगा, पर पिछले अनुभव के बोध के साथ ताकि हम पहले की गलतियों को न दोहराएं; क्योंकि ये दोनों ही क्षेत्र आज एक से संकट के दौर से गुजर रहे हैं। शिक्षा उस स्थान का प्रतिनिधित्व करती है जहां - कोई समाज खुद को पुनरुज्जीवित कर सकता है, बशर्ते इसका विवेकशील उपयोग करे - शिक्षा का मर्मस्थल है इस जुड़ाव के दौरान सोच-विचार करना। यह एक स्थापित तथ्य है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली आंशिक रूप से अपनी औपनिवेशिक प्रशासन, वित्तीय प्रबंधन की थाती के कारण मरणासन्न रही है, पर इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि पुरानी सांस्कृतिक विरासत जो साक्षरता और बौद्धिक ज्ञान को शारीरिक श्रम और कौशल से पूरी तरह अलग करती है। प्रारंभिक शिक्षा को सार्वजनीन बना पाने और व्यवस्था को सुधार पाने में हम असफल रहे हैं। हम शिक्षा को तथा कथित कमजोर तबकों (जिसमें दस करोड़ शिल्पकार भी शामिल हैं) के सामाजिक बहिष्करण का एक अनगढ़ उपकरण बनने से हम रोक नहीं पाए हैं। इस स्थिति का सम्बन्ध पाठ्यचर्या के सांस्कृतिक चरित्र और हमारे गैर-लचीली प्रशासकीय तौर-तरीकों से है।

सुधारों को लागू करने में विलम्ब हमारे लिए बेहद मंहगा सिद्ध हुआ है। बच्चों में आत्मविश्वास और पहल करने की शक्ति को पनपाने के स्थान पर हमारी शिक्षा व्यवस्था उन्हें व्यापक समाज से काटती है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यक्तिगत फैसले लेने से वे डरते हैं। न तो यह उनकी इन्द्रियों को प्रशिक्षित करती है न उनकी संवेदनाओं को पोसती है। लाखों बच्चों के लिए यह ठीक वैसे ही चल रही है जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, अर्थात् कागज के उस टुकड़े को हासिल करने का जरिया भर बना जो कम होते जाते दफ्तरी नौकरियों में से एक का वादा करता हो। काम और शिक्षा को परस्पर जोड़ने की आवश्यकता की गुहार आजादी के बाद नीति चर्चा के इतिहास में सबसे पुरजोर रही है, फिर भी मानसिक और

शारीरिक काम के बीच का अन्तर पाटने की प्रक्रिया में लेशमात्र प्रगति नहीं हो पाई है और यह हमारी संस्कृति का सबसे पुराना नकारात्मक मूल्य बना रहा है। गांधी ने जो नई तरह की बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव रखा था वह मूलतः इसी खाई को पाटने से सम्बन्धित था, पर जैसा उन्होंने सोचा था वैसा हो नहीं पाया।

कोई कारण नहीं कि हम स्कूली पाठ्यचर्या में हस्तशिल्प जोड़ने के गांधी के विचार पर फिर से सोचें, पाठ्यक्रम से इतर किसी गतिविधि के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे अनुभव के रूप में जो शेष पाठ्यचर्या को अधिक सार्थक और गहन बनाए। अगर हम इस मसले पर ताजा सिर से सोचें और कल्पनाशीलता और पिछले अनुभवों से सीख लेते हुए इस पर काम करें, तो शायद हम शिक्षा व्यवस्था को कुछ इस प्रकार सुधार सकें जैसा सिर्फ हस्तशिल्प द्वारा ही सम्भव है, और इस प्रक्रिया में हम हस्तशिल्प की अपनी विरासत को भी एक प्रमुख संस्थागत मंच उपलब्ध करवा सकें जहां नई डिजाइन, तकनीक, रिश्ते और दृष्टियां भी फूल-फल सकें। एक जातिबद्ध सामाजिक व्यवस्था में अन्य चीजों की तरह ही हस्तशिल्प के ज्ञान व कौशल, दोनों ही पक्षों पर अलगाव व निष्क्रियता का असर हुआ है। औपचारिक शिक्षा को हस्तशिल्प से जोड़ने से दोनों ही में रचनात्मकता का संचार किया जा सकता है।

इस प्रस्तावित जुड़ाव पर आगे चर्चा करने से पहले मैं दो पुस्तकों की मदद से उस संकट को संक्षेप में जांचना चाहूंगा जिससे आर्थिक दुनिया में हस्तशिल्प आज गुजर रहे हैं। ये किताबें हैं उरसुला हूस की 'द मेकिंग ऑव ए साइबरटारियाट'⁷ तथा उरसुला फ्रैंकलिन की 'द रीयल वर्ल्ड ऑव टैकनोलॉजी'⁸।

उरसुला हूस एक श्रम अर्थवित्ता हैं। नारीवाद व मार्क्सवाद के प्रति उनकी कटिबद्धता उन्हें ल्यूजिट कहलाने के लिए अयोग्य बनाती है। इंग्लैण्ड में श्रमिकों के अधिकारों के लिए लम्बा संघर्ष करते उन्होंने अपनी एकमात्र पुस्तक में यह तर्क किया है कि तकनीक और सामाजिक सम्बन्धों के इतिहास में कुछ खास घट रहा है और हम एक ऐसे जलभंवर से गुजर रहे हैं जो मानवीय पटुता के एक नए स्तर की मांग करता है ताकि हम वैचारिक थकान से लड़ सकें। वे कहती हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कामगारों व नियोक्ताओं के रिश्ते में जो संतुलन आया था, वह तड़क रहा है। तकनीक के इतिहास में ऐसे तमाम बिन्दु आए हैं जिनमें प्रत्येक में पूंजी निवेश किया गया है ताकि मानवीय कौशलों को तकनीक में ही समाविष्ट कर लिया जा सके और इस हुनर का मालिक अनावश्यक बन जाए, पर जो ताजा रुझान है वह और भी ज्यादा विश्वासोत्पादक हैं। हूस हमें दिखाती हैं कि विज्ञान और तकनीक जो दिशा पकड़ते हैं वह दिशा ठीक वही होती है जहां नफा और इसलिए निवेश हमें ले जाता है;

दूसरे शब्दों में तकनीक और उसके सहायक विज्ञान के विकास का सरोकार दरअसल मूल्यों और मंशाओं से है।

हूस अनेक उदाहरण रखती हैं, जिनमें एक है, “साइबेटेरिएट” का विचार जिसमें दफ्तरों में काम करने वाले-जो पश्चिम में अमूमन महिलाएं ही होती हैं - के तमाम कौशलों को समाविष्ट कर लिया जिनके सहारे विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में दफ्तरों में कार्यरत महिलाओं ने अपनी सामूहिक अस्मिता गढ़ी थी। अब इस बात से कोई फर्क ही नहीं पड़ता कि आप एक पत्र को कैसे बनाते हैं, उसे क्या स्वरूप देते हैं या किस निपुणता से पहले ड्राफ्ट की त्रुटियों को सुधार सकते हैं। सचिव के पेशे से कौशल का पक्ष ही मिट चुका है। आज का डेस्कटॉप में शताब्दियों का कौशल समाहित है; इसे इस्तेमाल करने वाले को केवल मैनुअल में उपलब्ध आवश्यक चिन्हों में से ‘क्लिक’ भर करना होता है - ‘फॉरमेट’ ‘व्यू’ या सिर्फ ‘हैल्प’। इसके कारण आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों, खासकर पंथ-निरपेक्ष कार्य आधारित पहचान के क्षेत्र में होने वाले बदलावों को उभारती हैं। ऐसे कई उदाहरणों को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में वे हमें ‘शिल्पी’ को कैसे परिभाषित किया जाना चाहिए, के बारे में एक सुराग भी थमाती हैं - ‘शिल्प’ वह है जिसके लिए हमें सावधानी, व्यक्तिगत ध्यान की जरूरत हो और जो यह जता एक पहचान विकसित करता हो, ‘कि यह वह काम है जो मैं अच्छी तरह से करती/करता हूँ, यही मैं हूँ।’

शिल्प जिस संकट का सामना कर रहे हैं वह उस अधिक व्यापक असंतुलन का प्रतिबिम्ब हैं जिसका पहचान के संघर्ष इस पैनेपन से प्रतिनिधित्व करते हैं कि समाज-विज्ञानी यहां तक कि अर्थविज्ञानी भी उस पर गौर कर पा रहे हैं। उदाहरण के लिए दर्जी के पेशे को ही लें। इस पेशे को जो बात शिल्प बनाता है वह किसी व्यक्ति के साथ का रिश्ता है जो कटाई, सिलाई व परिधान को अंतिम रूप देने वाले सरोकार और सावधानी को आकार देता है। जब वह व्यक्ति जिसके लिए दर्जिन या दर्जी सिलाई करता है उसका स्थान एक बॉडी-साईज लेता है तो शिल्प एक सॉफ्टवेयर में गुम हो जाता है जो वस्त्र निर्माण फैक्ट्री के श्रमिक को किसी भी तरह के फैसले लेने की गुंजाइश नहीं छोड़ता, सिवाय सही समय पर सही बटन दबाने के।

हम सब जो विरासत शिल्पों को स्कूली पाठ्यचर्या में शामिल करने की पैरवी करना चाहते हैं, हालिया वित्तीय, तकनीक स्थितियों व आर्थिक बदलावों से बेहद चिंतित हैं जिन पर हम अपने आसपास गौर करते हैं। ऐसे बदलाव शिल्प के इतिहास में पहले भी हो चुके हैं, पर इस बार सम्भावना यह है कि संकट तेजी से फैलेगा। कुछ देश ऐसे भी हैं जिन्होंने नई वास्तविकाओं से समझौता कर उनके तहत

काम करते हुए भी अपने शिल्पों को संरक्षित किया है। दक्षिण अफ्रीका ऐसा ही एक देश है जहां शिल्प उत्पादों का संगठन व उनका विक्रय वाणिज्य तथा पर्यटन से बाकायदा जोड़ दिया गया है। भारत में भी इसका प्रयास किया जा रहा है यद्यपि हमारे प्रयासों का स्तर काफी सीमित है और प्रगति धीमी। अगर कालांतर में कुशल प्रबंधक अपना दिमाग इसमें लगाते हैं तो मेरा विश्वास है कि हम अपने शिल्पों के लिए बड़ा बाजार तलाश लेंगे और तब शायद कई शिल्पकार, महिलाओं व पुरुषों के लिए उनसे रोजी-रोटी कमाना संभव हो सकेगा, कम से कम उनका जीवन मौजूदा स्थितियों से बेहतर तो हो सकेगा।

शिल्प उत्पादों के लिए अधिक खरीददार तलाशना अपने आप में एक भारी चुनौती है, पर शिल्पों का भविष्य अनेक अन्य निर्णयों व पहलों से ही गढ़ा जा सकेगा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण निर्णय होगा भारतीय लोकतंत्र में शिल्पकार के सामाजिक स्तर के विषय में बेशक शिक्षा भी एक ऐसा प्रमुख घटक है जो शिल्पकारों का और उनके शिल्पों का भविष्य बनाएगा। बात केवल उनके बच्चों की शिक्षा की नहीं है वरन शिक्षा को एक प्रणाली के रूप में जोड़ने की है, ताकि भारत की शिल्प विरासत में निहित ज्ञान व कौशल हमारे शिल्पों को इतना सक्षम बना सके कि वे लगातार होने वाले नव-उदारवादी सिद्धान्तों के हमलों को झेल उनके अस्तित्व को बनाए रख पाएं, हमारी सभ्यता के भविष्य को आकार दें। जाहिर है कि इस समय संतोष कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की गुंजाइश नहीं है।

उरसूला फ्रेंकलिन अपनी पुस्तक ‘द रीयल वर्ल्ड ऑव टेक्नॉलजी’ में समग्र व आदेशात्मक तकनीक के बीच अन्तर करती हैं। इस अन्तर का आधार यह कि कोई तकनीकी उसे इस्तेमाल करने वाले व्यक्ति को नियंत्रित करने देती है अथवा नहीं। आदेशात्मक तकनीकें कुशल होती हैं और बड़ी संख्या में लोगों को एक समूह के रूप में काम करने देती हैं, पर साथ ही वे काम के विभिन्न आयामों का नियंत्रण किसी अन्य व्यक्ति को भी सौंप देती हैं, जो शेष से ऊपर हो। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना जानती/जानता है जिसके लिए वह जिम्मेदार हो। समग्र तकनीक में लोग शुरू से लेकर अंत तक अपने काम की प्रक्रिया को नियंत्रित कर पाते हैं। जब शिल्पकार अपने उत्पाद पर काम कर रहा हो तो उसी दौरान तमाम निर्णय लेने पड़ते हैं जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा नहीं लिए जाते जो उनसे अधिक बड़ी सत्ता हो।

फ्रेंकलिन कनाडा के प्रमुख प्रयोगात्मक भौतिकीविदों में से एक हैं, वे आदेशात्मक तकनीकी का उदाहरण देते समय प्राचीन चीन में बड़े वाहनों की ढलाई का जिक्र करती हैं। यह काम कई लोगों को

अलग-अलग कामों की क्रमिक श्रृंखला द्वारा किया जाता था, जिसके सभी को निश्चित निर्देशों के हिसाब से किसी बॉस या प्रबंधक के निरीक्षण में करने पड़ते थे। वे समग्र तकनीकी का उदाहरण हस्तशिल्पों के माध्यम से देती हैं जिसमें कोई रचनाकार स्वयं किसी वस्तु की कल्पना करता है, उस पर काम करता है और उसे पूरा करता है। फ्रैंकलिन के अनुसार इन दो किस्म की तकनीकों में 'दो भिन्न प्रकार की विशेषताएं' श्रम विभाजन होते हैं, नतीजतन उनके सामाजिक और राजनितिक निहितार्थ भी भिन्न होते हैं (पृ. 10)।

आदेशात्मक तकनीक अनुपालन की संस्कृति को प्रोत्साहित करती है; यही प्राचीन चीन में होता था। फ्रैंकलिन का तर्क है कि इसी से सामाजिक व राजनीतिक सोच को आकार दे चीन में अफसरशाही का सबसे प्राचीन ज्ञात उदाहरण रचा गया था। जबकि यूरोप में विभिन्न शिल्पों में काम में ली जाने वाली समग्र तकनीक ने वहां के सामाजिक व राजनीतिक ढांचे का निर्माण किया। औद्योगिक क्रांति के दौरान यहां भी आदेशात्मक तकनीक का विस्तार समुद्र में तेल फैलने के समान तेजी से हुआ, फिर भी उनका कहना है कि चयन का घटक बना रहा है जो प्रासंगिक है। यद्यपि समग्र तकनीक का अस्तित्व क्रमशः कठिनतर होता गया है फिर भी तमाम कारणों के चलते (जैसे पर्यावरणीय संसाधनों की कमी तथा विभिन्न प्रकार के राजनैतिक संकट जिनका पूर्णतः औद्योगीकृत व कम औद्योगीकृत देशों, दोनों को ही सामना करना पड़ रहा है) उन क्षेत्रों की पहचान करने में विवेक व चयन का उपयोग आवश्यक है, जिनमें इन दो प्रकार की तकनीकों का उपयोग किया जाए।

जिन देशों में हस्तशिल्पों की लम्बी परंपरा रही है, वहां उद्योगों के आधुनिकीकरण से उन लोगों के समूहों को दुश्चिन्ता और खतरा महसूस हुआ है जो किसी खास हस्तकला में विशेषज्ञता रखते हैं और अपनी आजीविका व अस्तित्व के लिए उस पर निर्भर करते हैं। इस तरह पीड़ा की अभिव्यक्ति भारत में लगातार उन शिल्प कद्रदानों द्वारा की जाती रही है जिन्होंने आजीवन संघर्ष किया है ताकि राज्य की आर्थिक विकास योजना में शिल्पों को भी स्थान मिल सके। यह संघर्ष तो जारी रहना ही चाहिए, इसी दरमियान शिल्पों के बचाव व उन्नति के लिए स्कूली शिक्षा में समुचित स्थान का दावा भी करना चाहिए। यही राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 (एनसीएफ : 2005) करना चाहती है।

एनसीएफ के तहत शिल्पों का जो फोकस समूह गठित किया गया था उसकी रिपोर्ट यह इंगित करती है कि शिल्प शताब्दियों के दौरान, भारतीय दर्शन, तत्वमीमांसा, कला व सामाजिक जीवन के रूपकों व विचारों का स्रोत रहे हैं। रपट कहती है कि 'शिल्प - सिद्धान्त व व्यवहार दोनों ही रूपों में - बच्चों के भावनात्मक,

आर्थिक व बौद्धिक सशक्तीकरण का माध्यम हैं। यह बात हर स्तर पर तथा स्कूल तथा समाज, दोनों ही स्थानों पर खरी है।'⁹ यह दावा किसी भी स्कूल के प्राचार्य या सरकारी शिक्षाधिकारी के लिए, शिल्पों को एक अवसर देने के लिए पर्याप्त होना चाहिए।

स्कूली पाठ्यचर्या में शिल्पों को स्थान देने पर लम्बे अर्से से वांछित कई सुधारों की सम्भावना भी बढ़ेगी। शिल्पों की समूची सम्भावना को हासिल करने के लिए हमें तैयारी के कुछ कदम उठाने पड़ेंगे। इनमें एक है जो स्कूल शिल्प सिखाने के निर्णय लें, उनमें शिल्प सिखाने के लिए आवश्यक उपकरण और सामग्री की व्यवस्था कैसे की जाए। अगर हम इस काम को महज क्रय व आपूर्ति का सवाल समझें तो हम ठीक उन्हीं गलतियों को दोहराएंगे जो 1980 के दशक में ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के दौरान घटी थीं। इसके दूसरे विकल्प भी हैं।

निजी (जिन्हें भारत में 'पब्लिक' कहा जाता है) स्कूलों को शायद यह तय करने में कोई दिक्कत न आए कि वे करघा, कपड़ा, रंग और धागे, लकड़ी, मिट्टी या भट्टे कहां से खरीदें। निजी स्कूलों की वास्तविक चुनौती प्रबंधन के, और कई बार तो स्कूल के प्राचार्य की बाहरी तड़क-भड़क टीम-टाम और वातानुकूलन आदि की दिशा में बढ़ने की सोच को कैसे बदलेंगे। शहरी संपन्न तबके अभिभावकों की जीवनशैली और उनकी मांगों का सामना निजी स्कूलों को उस वक्त करना पड़ेगा जब वे टुंसी-अटी पड़ी समय सारिणी में शिल्पों के लिए जगह बनाना चाहेंगे। यह भय कि अगर अंग्रेजी पाठ्यपुस्तक में गाल्सवर्दी की 'क्वालिटी' पढ़ने के बाद बच्चा जूता कैसे बनाएं सीखने में समय जाया करेंगे तो आईआईटी में दाखिल ही नहीं हो सकेंगे, कई प्राचार्यों और प्रबन्धन समितियों के अध्यक्षों को ऐसा निर्णय लेने से रोकेगा।

सरकारी स्कूलों जिसमें अधिक सुविधा सम्पन्न केंद्रीय व नवोदय विद्यालय भी शामिल हैं, को अधिक बड़ी व्यवस्थागत चुनौती का सामना करना पड़ेगा। सरकारी विद्यालयों को अलग-अलग संस्थाओं के रूप में नहीं देखा जाता है। वहां जो कुछ भी होता है वह ऊपरी निर्देशों के कारण ही होता है, और यह बात सभी सरकारी स्कूलों पर लागू है। सुधार के तमाम बेहतर विचार इसलिए ठप्प रहे, बदलाव लाने में असफल रहे क्योंकि सरकारी स्कूलों को स्वायत्त इकाइयों की तरह स्वीकारा ही नहीं गया जिनके प्राचार्यों और शिक्षकों को एक सुनिश्चित खांचे में कम से कम कुछ मामलों में निर्णय लेने की आजादी हो।

अगर शिल्प को किसी राज्य के प्रबुद्ध शिक्षा निदेशक के निर्णय से लागू किया जाता है तो प्रयास प्रारंभ होने के पूर्व ही उसकी

मौत सुनिश्चित होगी। ऐसे में अनुपयुक्त चयन किए जाएंगे, उपकरण व सामग्री ऐसी प्रक्रियाओं से खरीदे जाएंगे जिनमें भ्रष्टाचार की संभावना हो और अंत-तंत यह सामग्री डब्बों में बंद पड़ी रहेगी। इसके बदले अगर स्कूलों को केवल एक रूपरेखा सुझाई जाए और प्रत्येक को खुद यह निर्णय लेने दिया जाए कि किस शिल्प को सिखाना चाहते हैं, किन स्रोतों से सम्बन्धित उपकरण व सामग्री मंगाना चाहते हैं, तो उम्मीद की जा सकती है कि प्राचार्य परियोजना के नतीजों के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानें। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा ठीक इसी सामान्य सुधार का सुझाव रखती है, जिसके निहितार्थ व्यापक होंगे।¹¹ संस्थागत स्वायत्तता की दिशा में शिल्प एक सटीक प्रारंभ बिन्दु हो सकते हैं।

जो स्कूल शिल्प को अपनी पाठ्यचर्या में जोड़ें उन्हें उपलब्ध स्थानीय शिल्पकारों को बच्चों और शिक्षकों के साथ काम करने को आमंत्रित करना चाहिए। भारत में शायद ही कोई ऐसा इलाका हो जिसकी अपनी शिल्प परंपरा न हो, और जहां ऐसे व्यक्ति न मिलें जो इन शिल्पों का आज भी अभ्यास करते हैं। विरासत शिल्पों के लिए गठित राष्ट्रीय फोकस समूह पुरजोर अनुरोध करता है कि बच्चों और शिक्षकों के साथ काम करने के लिए आमंत्रित इन स्थानीय शिल्पकारों को समुचित मानदेय दिया जाए। उन्हें पाठ्यचर्या इतर या अतिरिक्त गतिविधियों का दर्जा न देकर उन्हें परंपरागत विषयों के साथ जोड़कर पढ़ाया जाए ताकि स्कूली जीवन में भी कार्य सम्बन्धी मूल्य पुख्ता तौर पर स्थान बना सकें।¹² जो स्कूल शिल्पों को पाठ्यचर्या में शामिल करें उन्हें अन्य विषयों के साथ शिल्प के रिश्ते जोड़ने चाहिए। उदाहरण के लिए शिल्प के भौतिक व डिजाइन पक्ष को गणित के साथ जोड़ा जा सकता है, और कुम्हारी जैसे शिल्प की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय विज्ञान भी पढ़ाया जा सकता है। शिल्प से जुड़ी शब्दावली को विस्तार देने के लिए भाषा व साहित्य की कक्षाओं में प्रासंगिक साहित्यिक सामग्री का सहारा लिया जा सकता है। (उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ रेणु की लघुकथा 'ठेस' या गॉल्सवर्दी की कहानी 'क्वालिटी')।¹³ किसी शिल्प के सामाजिक भूगोल (अर्थात् कौन लोग इससे जुड़े हैं उनके उत्पाद कहां भेजे और बेचे जाते हैं, आदि) को सामाजिक विज्ञान की पाठ्यचर्या से जोड़ा जा सकता है।

स्कूलों में शिल्प शिक्षण को कला शिक्षा का ही एक पक्ष मानना चाहिए। मौजूदा कला पाठ्यचर्या शास्त्रीय परंपराओं पर केन्द्रित करती है और लोक परंपराओं की उपेक्षा करती है, जिनमें शिल्प सामान्यतः सन्निहित होते हैं। कला के मुख्य क्षेत्रों की पाठ्यचर्या को पुनर्परिभाषित करना जरूरी है, जैसे-संगीत, नृत्य, नाटक व दृश्य कलाएं ताकि उनमें लोक परंपराओं व शैलियों को शामिल किया जा

सके। इस पुनर्परिभाषा के संदर्भ में शिल्प कार्यक्रम को कला शिक्षा की व्यापक रूपरेखा में रखा जा सकता है। यह सुझाव उन तमाम सम्भावनाओं की उपेक्षा की गुहार नहीं है, जो शिल्प कार्यक्रम खोल सकता है, जैसे इसे व्यावसायिक प्रशिक्षण के साथ जोड़ना जो उत्पादन कौशल व दृष्टिकोण को गढ़ने में मददगार हो। ये भी शिल्प शिक्षा के दायरे में ही आते हैं पर जरूरी नहीं कि इनको आधार बना कर ही शिल्पों की पैरवी की जाए, अंशतः तो इसलिए कि गांधीवादी चरण में बिना अधिक सफलता पाए हमने इस दिशा का अनुभव ले लिया है और इसलिए भी क्योंकि हमें कोई ऐसे कारण नजर नहीं आते जिनके चलते हम शिल्पों के सम्मुख उपस्थित अधिक संकट के तत्काल उन्मूलन की उम्मीद रखें।

जो स्कूल पाठ्यचर्या में शिल्प (क्राफ्ट्स इन करिक्यूलम) परियोजना को चुनते हैं वे मूल्य-शिक्षण सम्बन्धी चिंताओं से मुक्त हो सकते हैं। 'मूल्य शिक्षण' का जुमला हमें याद दिलाता है कि हम शिक्षा से रखी जाने वाली उम्मीदों को किस स्तर तक नीचा कर चुके हैं। हम तमाम कार्यक्रम देखेंगे जो शिक्षा में मूल्य स्थापित करने के लक्ष्य को लेकर चलाए जाते हैं, मानो स्कूल में जो कुछ हो रहा है उसमें मुट्टी भर मूल्य बुरकाए जा सकते हों। शिल्प इस भूमिका को कुछ ऐसे तरीके से निभाएंगे जिसे बहुत आसानी से पहचाना नहीं जा सकेगा, क्योंकि शिल्प सीखने में जो मूल्य का घटक है वह बेहद झीना और बारीक होता है।

जब बच्चे किसी शिल्प को सीखते हैं, तब वे एक ऐसी प्रक्रिया में भागीदारी करते हैं जो प्रत्येक शिक्षार्थी को एक स्नेहिल पर सख्त परंपरा के तहत प्रयोग करने का पर्याप्त मौका उपलब्ध करवाती है। उसमें 'सही' का मानक अपने निज के काम से ही उपजता है। फिर से करने या खुद को सुधारने की क्षमता स्वतः ही पोषित होती है, बशर्ते की शिक्षक कठोर न हो और प्राचार्य बच्चों के 'श्रेष्ठतम' उत्पादों को वार्षिक उत्सव के दौरान किसी मुख्य अतिथि के लिए प्रदर्शित करने की योजना न बुन रहा हो। उच्चतम नैतिक मूल्य दूसरों के साथ रिश्तों के संदर्भ में ही उभरते हैं, इसमें प्रकृति के साथ का रिश्ता भी शामिल है। स्वर्गीय डेविड हॉर्सबर्ग यह कहते थे कि जिस सामग्री के साथ हम काम करते हैं वह हमें यह भी सिखाती है कि हमारा सम्बन्ध उसके साथ कैसा हो; अगर हम लकड़ी के एक टुकड़े के साथ जिस पर हम कुछ उकेरना चाहते हों, दुर्व्यवहार करें तो वह टूट जाता है।

मार्जरी साइक्स, गांधी के साथ अपने जीवन पर लिखी पुस्तक में¹³, उन बच्चों और शिक्षकों के साथ अपने वार्तालाप का वर्णन करती हैं, जिन्होंने बुनियादी तालीम कार्यक्रम के तहत कताई सीखी थी। शिक्षकों ने उन्हें बताया कि वे रूई के गोले को केवल तब तोड़ते

हैं जब वे पूरी तरह पक जाती हों क्योंकि तब 'एक कोमल स्पर्श की ही जरूरत पड़ती है और वे आसानी से टूट जाते हैं। अगर ऐसा न हो तो वे तोड़ने के लिए तैयार ही नहीं हुई हैं। हमें कुछ दिन और रुकना चाहिए। हमें अधीर या लालची नहीं होना चाहिए।' साइक्स की टिप्पणी है : "यह भी शिक्षा थी, अन्य जीवित वस्तुओं, पेड़-पौधों और पशुओं से कैसे पेश आना चाहिए, इसकी शिक्षा, उनके जीवन के स्वाभाविक चक्र के विषय में शिक्षा-अहिंसा के एक पक्ष की शिक्षा' (पृ. 54)।

जब स्कूल तथा शिक्षक शिल्पकारों के साथ मिलकर काम करने लगेंगे तो शिल्प सीखने के अन्य आयाम भी उभरेंगे जो नैतिक शिक्षा के संदर्भ में प्रासंगिक हों। समय व श्रम, उत्पाद को लेकर व्यक्तिगत सावधानी और बारीकियों पर ध्यान देने को लेकर एक भिन्न प्रकार का भाव आदि वे सामान्य विशेषताएं हैं जो शिल्प अनुभव के साथ जुड़ी हैं। फिर चाहे आप एक रूमाल पर कढ़ाई कर रहे हों या लकड़ी से कुछ तराश रहे हों, आप आत्म अन्वेषण की, आनंद और सुकून की एक लय में प्रवेश करते हैं। अगर आप किसी शिल्प का ऐसे लोकाचार में अभ्यास करते हैं जो व्यक्तिगत सम्मान और न्याय को सुनिश्चित करता हो, तो आप ऐसा आत्मविश्वास पाते हैं जो किसी दूसरी वस्तु से मिल ही नहीं सकता। ♦

संदर्भ :-

1. उरमूल ट्रस्ट, पश्चिमी राजस्थान के शोषित गरीबों के साथ गरीबी उन्मूलन के लिए कई तरीकों से काम कर रहा है, उनमें से एक उपाय है हस्तशिल्पकारों को बेहतर बाजार तलाशने में मदद करना।
2. सेल्फ एम्प्लॉयड विमेन्स एसोसिएशन (सेवा) महिला कामगारों को स्वावलम्बी बनाने और उन्हें रोजगार सुरक्षा मुहैया करवाने में जुटा रहा है। इस व्यापक आन्दोलन के एक भाग के रूप में सेवा शिल्पकारों के साथ भी काम करता है।
3. संधि एक संगठन है जो लाभ के लिए काम नहीं करता तथा नए व नवाचार युक्त तरीकों से उत्पादों के लिए बाजार तलाशता है और शिल्पकारों के क्षमतावर्धन व व्यवस्था मुहैया करवाता है ताकि वे नए बाजारों की मांगों की आपूर्ति कर सकें।
4. अधिक जानकारी के लिए देखें 'प्रेज्युडिस एण्ड प्राइड' कृष्ण कुमार पेन्गुइन, नई दिल्ली, 2001 : साथ ही देखें 'नेशनल एज्युकेशन एज ए कम्प्युनिटी इश्यू : द मुस्लिम रिस्पॉन्स टू द वर्धा स्कीम, लेखक योआखिम औस्टरहैल्ड, पुस्तक 'एज्युकेशन एण्ड सोशल चेंज इन साउथ एशिया', संपादक : कृष्ण कुमार, योआखिम औस्टरहैल्ड, ओरिएण्टल लांगमन, नई दिल्ली, 2007 पृ. 156-195
5. इस तथा शिल्प क्षेत्र के अन्य संगत मुद्दों पर चर्चा के लिए देखें लैला तैय्यबजी के उस लेख का परिचय जो सेमिनार के 523 वें अंक में,

मार्च, 2003 में छपा था, पृ. 12-16

- 7, मन्थली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क, 2005
8. अनान्सी, टेरैण्टो, 1990, संशोधित 1999
9. राष्ट्रीय फोकस ग्रुप, पोजिशन पेपर ऑन हैरिटेज क्राफ्ट्स, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 2006
10. 'क्वालिटी' नामक लघुकथा औद्योगिक क्रांति ने इंग्लैण्ड के ग्राम समाज के जीवन व सांस्कृतिक मूल्यों को कैसे प्रभावित किया, के बारे में है। कथा एक जूता बनाने वाले व्यक्ति के इर्दगिर्द घूमती है जिसको हुनर व गुणवत्ता बड़ी संख्या में बने जूतों में नामौजूद है।
11. विरासत शिल्पों पर राष्ट्रीय फोकस समूह (पूर्वोक्त) उन स्रोतों की सूची देता है, जिनसे शिल्पों सम्बन्धी परामर्श मिल सकता है और आवश्यक सामग्री व जानकारी उपलब्ध हो सकती है।
12. विस्तृत जानकारी के लिए देखें नेशनल फोकस ग्रुप पोजिशन पेपर ऑन वर्क एण्ड एज्युकेशन, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 2007
13. जहांगीर पी.पटेल तथा मार्जरी साइक्स, गांधी: हिज़ गिफ्ट ऑव द फाइट, फ्रेंड्स रूरल सेंटर, रसूलिया, 1987

(अंग्रेजी मासिक 'सेमीनार' से साभार।)

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

कविता

कोई भी चीज लम्बी नहीं चलती

कोई भी चीज इतनी लम्बी नहीं चलती
न खामोशी लम्बी चलती है
न आंसुओं की झड़ी
न अट्टहास
न हंसी
न उम्मीद न बेबसी

गरीबी को लम्बा चलाने की साजिश रची जाती है दिनरात
मगर समृद्ध करते रहते हैं लोग/
अपना जीवन और-और तरीकों से
पूँजी के बिना भी जीते हैं लोग गाते हुए गीत और लोरियां

प्रभात